जीवन का सच्चा लक्ष्य

श्री माँ एवं श्रीअरविन्द
के शब्दों में

"लक्ष्यहीन जीवन सदैव ही दुःखद जीवन होता है।

तुममें से प्रत्येक का अपना एक लक्ष्य होना चाहिए। परंतु यह कभी न भूलो कि तुम्हारे जीवन की उत्कृष्टता तुम्हारे लक्ष्य की उत्कृष्टता पर निर्भर होगी।"

(CWM 12, p.3)

विषय सूची

1. परम् तत्त्व 3
2. मानवीय अभीप्सा एवं पार्थिव अस्तित्व की वास्तविकता एवं उसका प्रकट रूप.....7
3. मानव जीवन का सच्चा लक्ष्य 11
4. जीवन के सामान्य एवं सर्वाधिक प्रचलित आदर्श तथा अधिकांश लोगों के जीने का ढंग 16
5. पार्थिव जीवन का स्वरूप एवं उद्देश्य 19
6. पूर्णता के मार्ग पर आने वाले उतार चढ़ाव 25

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, 2013

प्रकाशक :

श्रीअरविन्द सोसायटी

जयपुर शाखा

प्लाट नं. सी-136, गार्डन व्यू, ए-3, माथुर कॉलोनी, मंगल मार्ग,

बापू नगर, जयपुर (राज.) - 302015, भारत

फोन : 0141-2701043, 9829255271

मूल्य : 20/-

पुस्तक में प्रस्तुत सभी उद्धरण श्रीअरविन्द एवं श्री माँ के ग्रंथों में से लिए गए हैं। चूँकि यहाँ मुद्रित कुछ उद्धरणों का अनुवाद स्वयं सम्पादक द्वारा ही किया गया है अथवा अन्य स्थानों पर मूल विचार को अधिक सुगम व स्पष्ट करने के उद्देश्य से उपलब्ध अनुवाद में संशोधन किए गए हैं इसलिए उद्धरणों के लिए अंग्रेजी स्रोतों को ही लिखा गया है। महत्वपूर्ण वाक्यों को सम्पादक द्वारा मोटे अक्षरों में लिखा गया है।

सभी उद्धरणों के चयन, प्रस्तुति-क्रम व विभिन्न शीर्षकों में उनके वर्गीकरण के लिए सम्पादक उत्तरदायी है।

1. परम् तत्त्व

''परब्रह्म सर्वातीत होने के कारण किसी भी नाम या निश्चित धारणा के द्वारा अवर्णनीय है। वह सत् या असत् नहीं अपितु वह ऐसा कुछ है जिसके सत् और असत् प्राथमिक प्रतीक हैं; वह आत्मा या अनात्मा या माया नहीं है; न व्यक्तित्व या निर्व्यक्तित्व; न सगुण या निर्गुण; न चेतना या निश्चेतना; न आनन्द या निरानन्द; न पुरुष या प्रकृति; न देवता, न मनुष्य, न पशु है; न मुक्ति, न बन्धन है; अपितु ऐसा कुछ है जिसके ये सब प्राथमिक या अप्रधान, सामान्य या विशिष्ट प्रतीक हैं। फिर भी, **जब हम यह कहते हैं कि परब्रह्म यह या वह नहीं है, तब हमारा आशय होता है कि अपने सारतत्त्व में वह इस या उस प्रतीक या प्रतीकों के किसी भी समूह से सीमित नहीं हो सकता; एक अर्थ में परब्रह्म ही यह सब कुछ (इदं सर्वम्) है, तथा यह सब कुछ परब्रह्म ही है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म)।** यह सब कुछ और दूसरा कुछ नहीं हो सकता है।

परब्रह्म परम् तत्त्व होने के कारण तर्क का विषय नहीं है, क्योंकि तर्क केवल परिसीमित पर ही लागू होता है। यदि हम यह कहें कि 'परम् तत्त्व' परिसीमित को अभिव्यक्त नहीं कर सकता और इसलिए जगत् मिथ्या या असत् है, तो हम एक असंगत बात ही कहते हैं। परम् तत्त्व का स्वभाव ही ऐसा है कि हम यह नहीं जानते कि वह क्या है या क्या नहीं है; वह क्या कर सकता है या क्या नहीं कर सकता; हमारे पास यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं है कि कोई ऐसी भी चीज है जिसे वह नहीं कर सकता या यह कि उसकी सर्वातीतता किसी प्रकार की असमर्थता से परिसीमित है।

''चूँकि भगवान् अदम्य रूप से महान् है अतः वह बलहीनता को अंगीकार कर सकता है; चूँकि वह नित्य पवित्र है इसलिए वह बिना हानि उठाये पापाचरण में भी संलग्न हो सकता है; चूँकि वह समस्त आनंद का शाश्वत भोक्ता है इसलिए वह दुःख के आनंद का भी आस्वादन करता है, चूँकि वह नित्य ही बुद्धिमान है, इसलिए उसने स्वयं को मूढ़ता से भी वर्जित नहीं कर रखा है।''

(CWSA 12, p.430)

हम आध्यात्मिक रूप से यह अनुभव प्राप्त करते हैं कि जब हम अन्य सभी चीजों से परे चले जाते हैं तब हम किसी परम् सत्ता तक पहुँचते हैं; हमें यह आध्यात्मिक रूप से अनुभव प्राप्त होता है कि विश्व स्वरूपतः एक अभिव्यक्ति है जो मानो परम् से निःसृत होती है; किन्तु ये सब शब्द एवं शब्द-समूह अनिर्वचनीय को शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न करने वाली बौद्धिक संज्ञाएँ-मात्र हैं।''(CWSA12, p.104-05)

ऐसी सृष्टि 'क्यों?'

'''यह ब्रह्माण्ड 'परम् तत्त्व' का एक स्थूल रूप है, मानो कि स्वयं को देखने के लिए, जीने के लिए और जानने के लिए उसने अपने से पृथक् यह रूप धारण किया हो जिससे कि एक ऐसा अस्तित्व और एक ऐसी चेतना हो सके जो उसे अपने उद्गम के रूप में पहचानने और अभिव्यक्त करने के लिए सचेतन रूप से उससे ऐक्य स्थापित करने में सक्षम हो। इस सृष्टि के अस्तित्व का और कोई कारण नहीं है। पृथ्वी वैश्व जीवन का एक तरह का प्रतीकात्मक संक्षिप्तीकरण, एक छोटा संस्करण, एक घनीभूतीकरण है ताकि क्रम-विकास का कार्य और उसका अनुसरण अपेक्षाकृत सुगम हो सके। और यदि हम पृथ्वी का इतिहास देखें तो हम समझ सकते हैं कि ब्रह्माण्ड क्यों रचा गया है। सनातन 'संभूति' में 'परम्' ही अपने आप के प्रति सज्ञान हो रहा है; और लक्ष्य है 'अभिव्यक्ति में' सृष्टि का 'स्रष्टा' से मिलन, एक ऐसा मिलन जो सचेतन, स्वैच्छिक व स्वतंत्र हो।

यही है 'प्रकृति' का रहस्य। प्रकृति कार्यकारिणी 'शक्ति' है, यह ही वह है जो कार्य करती है।'' (CWM 9, p.321)

किन्तु एक प्रश्न जो स्वभावतः ही मन में उठता है वह है कि, '''ब्रह्म जो पूर्ण, निरपेक्ष, अनंत है, जिसे किसी चीज की आवश्यकता नहीं, कोई कामना नहीं वह आखिर क्यों अपने अंदर रूपों के इन जगतों का निर्माण करने के लिए चेतना की शक्ति को प्रक्षिप्त करता है?' क्योंकि हमने इस समाधान को तो एक ओर रख दिया है कि वह अपनी ही शक्ति के स्वभाव से सृजन करने के लिए बाधित है, अपनी गति और रूपायन के सामर्थ्य के कारण रूपों में विचरने के लिए विवश है। यह सच है कि उसमें यह सामर्थ्य है किन्तु वह उससे सीमित, बँधा हुआ या

विवश नहीं है बल्कि वह स्वतंत्र है। तब यदि गति करने या अनन्त काल तक स्थिर रहने, अपने-आपको रूपों में प्रक्षिप्त करने या रूपायन के सामर्थ्य को अपने अंदर ही बनाये रखने के लिए स्वतंत्र होते हुए भी वह अपनी गति और रूपायन की शक्ति में लिप्त है तो इसका बस एक ही कारण हो सकता है – वह है आनंद।" (CWSA 21, p.98)

इस अवधारणा से कि जीवन के सभी संवेदन सकारात्मक, नकारात्मक या तटस्थ इस अविच्छेद्य, अंतर्निहित आनंद की बाहरी या सतही अनुभूति हैं, उस असीम अगाध की लहरें और फेन हैं, हम 'सृष्टि के प्रयोजन' की समस्या का सच्चा समाधान पाते हैं। "वस्तुओं की आत्मा एक अनंत, अविभाज्य सत्ता है और उस सत्ता का मौलिक स्वभाव या सामर्थ्य आत्म-सचेतन सत्ता की एक असीम, अक्षय शक्ति है और फिर उस आत्म-सचेतनता का निजी स्वभाव या स्वयं अपना ज्ञान सत्ता का एक असीम अविच्छेद्य आनंद है। यह आत्म-सत्ता रूपहीनता तथा सभी रूपों में, अनंत और अविभाज्य सत्ता की शाश्वत् अभिज्ञता में और सांत विभाजन की नानारूप प्रतीतियों में अपने आत्मानंद को सतत् रूप से बनाये रखती है... परन्तु आत्मा और वस्तुओं के प्रति हमारे साधारण दृष्टिकोण के लिए, जो केवल सतहों के प्रति सचेतन और उन्हीं पर विचरण करता है, यह अप्रत्यक्ष, गूढ़ और अवचेतन रहता है। और जैसे यह सब रूपों में है उसी तरह सब अनुभूतियों में भी रहता है चाहे वे सुखद हों या दुःखद अथवा उदासीन। वहाँ भी अप्रत्यक्ष, गूढ़ और अवचेतन रहकर भी यही है वह जो वस्तुओं को अस्तित्व में रहने में सक्षम बनाता है और बाध्य करता है। यही रूप जगत् को उसके आत्म-विकास के सभी चरणों में सहारा देता है और यही जीवन के साथ उस चिपके रहने का व बने रहने की उस अतिप्रबल इच्छा का कारण है जो अपने-आपको प्राण में आत्म-संरक्षण की सहज वृत्ति के, भौतिक में जड़तत्त्व की अविनश्वरता के और मन में अमरता के भाव के रूप में प्रकट करता है। आनंद ही अस्तित्व है, आनंद ही सृष्टि का रहस्य है, आनंद ही जन्म का मूल है, आनंद ही जीवन में बने रहने का कारण है, आनंद ही जन्म का अंत है और वह ही है जिसमें सृजन समाप्त होता है। उपनिषद् का कहना है, 'आनंद से ही समस्त जीव जन्म

लेते हैं, आनंद से ही जीवित रहते और बढ़ते हैं, तथा आनंद की ओर ही प्रयाण कर जाते हैं।'''(CWSA 21, p.108-109)

''इस वैश्व चक्र का उद्देश्य यह नहीं है कि हम जितना हो सके उतना शीघ्र, उन स्वर्गों में जहाँ पूर्ण प्रकाश और आनंद शाश्वत् है अथवा अतिवैश्व आनंद में लौट जाएँ, न ही महज अज्ञान के लम्बे अंसतोषजनक बँधे-क्रम में ज्ञान की खोज हेतु केवल प्रयोजनहीन चक्कर लगाये जाएँ और कभी उसे पूर्ण रूप से न पाएँ, क्योंकि उस अवस्था में अज्ञान या तो सर्वचेतन की एक न समझी जा सके ऐसी भूल होगी या फिर दुःखद और उद्देश्यहीन तथा समान रूप से वैसी ही अपरिहार्यता – अपितु इसका उद्देश्य है वैश्वातीत से भिन्न अवस्थाओं में, वैश्व सत्ता में अंतरात्मा के आनंद को अनुभव करना और मूर्तिमान जड़ सत्ता की अवस्थाओं द्वारा प्रस्तुत प्रतिरोधों में भी आनंद और प्रकाश के स्वर्ग को पाना और इस हेतु संघर्षरत आत्म-अन्वेषण के आनंद की ओर अग्रसर होना। यही मानव शरीर में अंतरात्मा के जन्म का और अपने काल-चक्रों के क्रम में मानव जाति के श्रम का सच्चा प्रयोजन प्रतीत होता है। 'अज्ञान' एक आवश्यक, यद्यपि एक गौण, तत्त्व है, जिसे वैश्व 'ज्ञान' ने अपने ऊपर अध्यारोपित कर लिया है ताकि वह कार्य सम्भव हो सके जो कि बड़ी भूल या पतन नहीं अपितु सउद्देश्य अवतरण है, कोई अभिशाप नहीं वरन् दिव्य अवसर है। 'सर्व-आनंद' को पाना और उसे उसकी बहुविधता के तीव्र सार-रूप में मूर्तिमान् करना, ऐसे अनंत 'सत्' की संभावना को प्राप्त करना जिसे अन्य अवस्थाओं में नहीं पाया जा सकता, 'जड़-पदार्थ' में से भगवान् के मंदिर का निर्माण करना ही वह कार्य प्रतीत होता है जो जड़-भौतिक विश्व में जन्मी आत्मा को सौंपा गया है।''(CWSA 21, p.613)

''जो कुछ मैं अभी नहीं कर सकता वह भविष्य में मैं जो करूँगा उसका सूचक है। असंभावना का भान ही समस्त संभावनाओं का आरंभ है। चूँकि यह भौतिक विश्व एक विरोधाभास एवं एक असंभवता था, इसीलिए शाश्वत प्रभु ने अपनी सत्ता में से इसको प्रकट किया है।'' (CWSA 13, p.200)

2. मानवीय अभीप्सा एवं पार्थिव अस्तित्व की वास्तविकता एवं उसका प्रकट रूप

''एक पारस्परिक ऋण मानव को परम् से बाँधता है:
हमारे लिए उसकी प्रकृति धारण करना आवश्यक है, क्योंकि उसने हमारी प्रकृति धारण की है;
हम भगवान् की सन्तान हैं और हमें भी उनके जैसा होना है:
उनके मानवीय अंश, हमें भी दिव्य बनना है।
हमारा जीवन एक पहेली है, जिसकी कुंजी है भगवान्।'' (CWSA 33, p.67)

''प्रकृति में एक आरोही क्रम-विकास है जो पत्थर से पौधे, पौधे से पशु तथा पशु से मनुष्य की ओर जाता है। चूँकि अभी तक मनुष्य ही इस आरोही क्रम-विकास के शिखर की अंतिम सीढ़ी है, अतः वह समझता है कि इस आरोहण में वही सबसे ऊँचा स्तर है और यह मानता है कि धरती पर उससे बढ़कर कुछ हो ही नहीं सकता। किन्तु यह उसकी भूल है। अपनी भौतिक प्रकृति में वह अभी तक लगभग पूरी तरह से पशु ही है, हाँ एक विचारशील और बोलने वाला पशु, परन्तु फिर भी, अपनी भौतिक आदतों और सहज प्रवृत्तियों में पशु ही है। निःसंदेह, प्रकृति ऐसी अपूर्ण कृति से सन्तुष्ट नहीं हो सकती; वह एक ऐसी सत्ता को लाने के लिए प्रयत्नशील है जो मनुष्य के लिए वैसी ही होगी जैसा कि मनुष्य पशु के लिए, ऐसी सत्ता जो अपने बाहरी रूप में तो मनुष्य ही होगी, किन्तु उसकी चेतना मन व उसकी अज्ञान की दासता से बहुत परे होगी।

''पशु थोड़ी-सी आवश्यकताओं की पूर्ति से संतुष्ट रहता है; देवता अपने वैभव से संतुष्ट रहते हैं। किन्तु मनुष्य तब तक स्थायी रूप से विश्राम नहीं कर सकता जब तक कि वह किसी उच्चतम शुभ तक न पहुँच जाए। वह प्राणियों में सबसे महान् है क्योंकि वह ही सबसे अधिक असंतुष्ट है, क्योंकि वह ही बन्धनों का दबाव सबसे अधिक अनुभव करता है। कदाचित् वही एक ऐसा है जो किसी सुदूर आदर्श के लिए दिव्य उन्माद द्वारा अधिग्रहीत किए जाने में सक्षम है।'' (CWSA 21, p.51)

श्रीअरविन्द धरती पर मनुष्यों को यही सत्य सिखाने के लिए आए थे। उन्होंने उनको बतलाया कि मनुष्य केवल एक संक्रमणशील सत्ता है जो मानसिक चेतना में निवास करता है, लेकिन एक नई चेतना, सत्य चेतना को उपलब्ध करने की संभावना और पूरी तरह सामंजस्यपूर्ण, शिव, सुन्दर, सुखी और पूर्णतः सचेतन जीवन जीने की क्षमता से युक्त है।''(CWM 12, p.116)

''मनुष्य के प्रबुद्ध विचारों में जो उसकी सबसे पहली और जैसा कि प्रतीत होता है उसकी अनिवार्य एवं अन्तिम लवलीनता भी है, क्योंकि वह संशय की लम्बी से लम्बी अवधियों के बाद भी बनी रहती है और हर निष्कासन के बाद पुनः आ जाती है, वही वह उच्चतम स्तर है जिसकी उसके विचार कल्पना कर सकते हैं। यह अपने-आपको परम् देव के पूर्वाभास में, पूर्णता के लिए चाह में, शुद्ध सत्य और अमिश्रित आनन्द की खोज में, गुप्त अमरता के भाव में अभिव्यक्त करती है। **मानवीय ज्ञान की प्राचीन उषाएँ इस सतत् अभीप्सा की अपनी साक्षी हमारे लिए छोड़ गईं हैं। आज हम ऐसी मानव जाति को देखते हैं जो प्रकृति के बाह्य रूप के विजयी विश्लेषण से अघा तो गई है पर संतुष्ट नहीं है और अपनी आदिम आकांक्षाओं की ओर लौटने की तैयारी कर रही है। प्रज्ञा का आदि सूत्र ही अंतिम सूत्र होने की प्रतिज्ञा करता है – भगवान्, प्रकाश, स्वतंत्रता और अमरत्व।**

मानव जाति के ये सतत् आदर्श उसकी सामान्य अनुभूति की प्रतिकूलोक्ति हैं और साथ-ही-साथ उन उच्चतर तथा गहरी अनुभूतियों की अभिपुष्टि हैं जो मानव जाति के लिए असामान्य हैं और जो अपनी संगठित समग्रता में किसी क्रांतिकारी व्यक्तिगत प्रयास या वैकासिक आम प्रगति द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। पाशविक तथा अहंकारयुक्त चेतना में दिव्य सत्ता को जानना, उसे पाना और वही हो जाना, अपनी अर्धचेतन अथवा अस्पष्ट भौतिक मानसिकता को पूर्ण अतिमानसिक प्रकाश में बदलना, जहाँ केवल शारीरिक पीड़ा और भावनामय कष्ट से घिरे क्षणिक संतोष का दबाव है वहाँ शान्ति और स्वयंभू

आनन्द का निर्माण करना, जो संसार अपने-आपको यांत्रिक आवश्यकताओं के समूह के रूप में प्रदर्शित करता है वहाँ अनन्त स्वाधीनता को प्रतिष्ठित करना, **मृत्यु और सतत् परिवर्तन के अधीनस्थ शरीर में अमर जीवन प्राप्त करना – ये हैं वे चीजें जो भौतिक में भगवान् की अभिव्यक्ति और प्रकृति के पार्थिव क्रम-विकास के लक्ष्य के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत की जा रही हैं।''**

(CWSA 21, p.3-4)

समग्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण में, ''जगत् भगवान् की 'अपनी' सत्ता में होने वाली उन्हीं की एक क्रिया है; हम दिव्य चेतना के केन्द्र और ग्रन्थियाँ हैं जो सब मिल कर 'उनकी' प्रक्रियाओं को सहारा देते हैं। यह जगत् स्वयं भगवान् की 'अपने' निजी आत्म-चेतन आनन्द के साथ एक क्रीड़ा है, 'वे' ही हैं जिनका एकमात्र अस्तित्व है, जो अनन्त, मुक्त और पूर्ण हैं; हम उस सचेतन आनन्द के ऐसे रूप हैं जो उसके द्वारा स्वयं को अनेक रूपों में प्रकट करने के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं और भगवान् के क्रीड़ा-सहचर बनने के लिए ही अस्तित्व में लाए गए हैं। यह जगत् एक सूत्र, एक लय, एक प्रतीकात्मक व्यवस्था है जो भगवान् को अपने स्वयं के लिए ही उनकी चेतना में व्यक्त करता है – इसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है, अपितु यह अस्तित्व केवल 'उनकी' चेतना और आत्माभिव्यक्ति में ही है; हम, भगवान् की तरह, अपनी आन्तरिक सत्ता में 'वही' हैं जो अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु अपनी बाह्य सत्ता में उस सूत्र के पद, उस छन्द के स्वर, उस प्रणाली के प्रतीक हैं। आओ, हम भगवान् की कार्य-प्रणाली को आगे बढ़ाएँ, 'उनकी' लीला के सहचर बनें, 'उनके' सूत्र को क्रियान्वित करें, 'उनके' सामंजस्य को सम्पादित करें, 'उनकी' व्यवस्था में अपने द्वारा 'उनको' अभिव्यक्त करें। इसी में हमारा आनन्द और हमारी आत्म-परिपूर्णता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम, जो कि विश्व से परे और श्रेष्ठ हैं, विश्व-सत्ता में प्रविष्ट हुए हैं।

पूर्णत्व साधित करना होगा, सामंजस्य को संसिद्ध करना होगा। अपूर्णता, सीमितता, मृत्यु, शोक, अज्ञान, जड़तत्त्व – ये सब तो इस सूत्र के आरम्भिक

पदमात्र हैं – ये तब तक समझ में नहीं आते जब तक कि हम विशालतर घटकों को कार्यान्वित न कर लें तथा सूत्र-समूह की पुनर्व्याख्या न कर लें; ये केवल संगीतज्ञ के स्वर मिलाने के समय के प्रारम्भिक बेमेल स्वर हैं। अपूर्णता में से हमें पूर्णता का निर्माण करना होगा, सीमितता में से अनन्तता को ढूँढ़ निकालना होगा, मृत्यु में से अमरत्व को प्राप्त करना होगा, शोक में से दिव्य आनन्द को खोज निकालना होगा, अज्ञान में से दिव्य आत्म-ज्ञान को मुक्त करना होगा, जड़तत्त्व में से आत्मा को प्रकट करना होगा। इसी उद्देश्य को अपने लिए और मनुष्य-जाति के लिए सिद्ध करना हमारे योगाभ्यास का लक्ष्य है।" (CWSA 12, p.97)

***

"तुम्हारा लक्ष्य उच्च एवं व्यापक, उदार तथा निष्काम होना चाहिए; इससे तुम्हारा जीवन तुम्हारे अपने लिए तथा दूसरों के लिए भी बहुमूल्य हो जाएगा।

परंतु तुम्हारा आदर्श चाहे जो भी हो, तुम उसे तब तक पूर्ण रूप से साधित नहीं कर सकते जब तक कि तुमने अपने अंदर पूर्णता न पा ली हो।

अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए, सबसे पहला कदम है स्वयं के विषय में सचेतन होना, अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों और उनकी क्रियाओं के विषय में सचेतन होना।" (CWM 12, p.3)

***

"धरती पर जीवन तत्त्वतः प्रगति का क्षेत्र है। किन्तु जो कुछ प्रगति करनी है उसके लिए जीवन कितना संक्षिप्त है!

"'प्रेम' प्रधान सुर है, 'आनंद' संगीत है, 'शक्ति' तान है, 'ज्ञान' गायक है, और वह अनंत 'सर्वात्मा' ही इसका रचयिता और श्रोता है। अभी हम लोग केवल प्रारंभिक बेसुरे स्वरों को ही जानते हैं जो उतने ही भयंकर हैं जितनी उनकी स्वरसंगति महान् होगी; परन्तु हम दिव्य परमानंद तक अवश्य पहुँच जाएँगे।"
(CWSA 13, p.204)

3. मानव जीवन का सच्चा लक्ष्य

अपनी तुच्छ कामनाओं को संतुष्ट करने में अपना समय व्यर्थ करना निरी मूर्खता है। सच्चा सुख तभी मिल सकता है जब तुमने भगवान् को पा लिया हो।''

(CWM 16, p.436-37)

''...मानव भौतिक शरीर में आते हैं बिना यह जाने कि 'क्यों', उनमें से अधिकांश जीवन जीते हैं बिना यह जाने कि 'क्यों', और शरीर त्याग देते हैं बिना यह जाने कि 'क्यों', और उन्हें उसी चीज को बार-बार अनिश्चित काल तक तब तक आरंभ करते रहना पड़ता है जब तक कि, एक दिन, कोई व्यक्ति उनसे यह कहने के लिए नहीं आ जाताः ''सावधान! तुम जानते हो, इस सबका एक उद्देश्य है। तुम यहाँ इस कार्य के लिए हो, अपने इस अवसर से चूको मत!''

और कितने वर्ष व्यर्थ हो जाते हैं।'' (CWM 8, p.175)

''....व्यक्ति यहाँ (पृथ्वी पर) इसलिए है कि उसे अमुक कार्य संपन्न करना है और यह कोई अहंकारपूर्ण कार्य नहीं है। यही मुझे योग-पथ पर प्रवेश करने का सबसे अधिक युक्ति-संगत तरीका प्रतीत होता है – एकाएक यह अनुभव करना कि ''चूँकि मैं यहाँ हूँ, इसका तात्पर्य है कि मुझे कोई कार्य पूरा करना है। चूँकि मुझे एक चेतना प्रदान की गयी है, अतः इस चेतना से मुझे कोई कार्य संपन्न करना है – वह क्या है?''

साधारणतया, **मुझे ऐसा लगता है कि यही पहला प्रश्न है जो मनुष्य को अपने-आपसे पूछना चाहिए : 'मैं यहाँ क्यों हूँ?'''** (CWM 4, p.246)

''मूल रूप में जीवन जीने का केवल एक ही सच्चा हेतु है : अपने-आपको जानना। हम पृथ्वी पर सीखने के लिए हैं – यह सीखने के लिए कि हम क्या हैं, हम यहाँ क्यों हैं और हमें क्या करना है। और यदि हम यह नहीं जानते तो हमारा जीवन बिल्कुल रिक्त है – अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी।

अतएव, सामान्यतया, जल्दी शुरू कर देना ही बेहतर है, क्योंकि सीखने को बहुत कुछ है। यदि व्यक्ति जीवन के और जगत् के वर्तमान रूप को, और जीवन के 'क्यों' और 'कैसे' को जानना चाहता है, तो वह बहुत छोटी अवस्था से ही यह कार्य आरंभ कर सकता है, उस समय से जब कि वह बहुत, बहुत छोटा होता है

– पाँच वर्ष की अवस्था से भी पहले। और तब, वह सौ वर्ष की आयु तक भी सीखता रह सकता है। अतः यह मनोरंजक है। और सब समय उसके सामने आश्चर्यजनक बातें आ सकती हैं, हर समय वह कुछ-न-कुछ ऐसा सीख सकता है जिसे वह पहले नहीं जानता था, उसे ऐसी अनुभूति प्राप्त हो सकती है जो उसे पहले कभी नहीं हुई, उसे कोई ऐसी वस्तु उपलब्ध हो सकती है जिसके विषय में वह पहले अनभिज्ञ था। निश्चय ही यह बहुत मनोरंजक है। और व्यक्ति जितना अधिक जानता है, उतना अधिक वह इस बात के प्रति जागरूक होता है कि अभी सब कुछ सीखना बाकी है। सचमुच में, मैं यह कह सकती हूँ, केवल मूर्ख-जन ही यह सोचते हैं कि वे सब कुछ जानते हैं। यह इस बात का निश्चित लक्षण है, यदि कोई तुमसे आकर यह कहे : ''ओह! मैं यह सब जानता हूँ; ओह! मुझे सब पता है''; तो वह तुरंत ही अपनी थाह दे देता है।''(CWM 6, p.15-16)

''...हमें अपने-आपसे कहना चाहिए : ''निश्चय ही कोई ऐसा कार्य है जिसे मैं अन्य किसी की भी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता हूँ क्योंकि हममें से प्रत्येक उस दिव्य शक्ति के विशेष रूप की अभिव्यक्ति हैं जो कि सबके भीतर तत्त्वतः एक ही है। यद्यपि वह कार्य कितना भी छोटा, कितना भी साधारण क्यों न हो, पर मुझे अपने आपको उसी के लिए अर्पित करना है, और उसे खोजने के लिए, मैं अपनी अभिरुचियों, प्रवृत्तियों और पसंदों का निरीक्षण और विश्लेषण करूँगा, और मैं यह बिना किसी अभिमान और अतिशय नम्रता के साथ करूँगा चाहे लोग जो भी सोचें, मैं उसे उसी प्रकार करूँगा जैसे मैं श्वास लेता हूँ, जैसे फूल महकता है, सहजता से, स्वभाविक रूप से, क्योंकि मैं और कुछ कर ही नहीं सकता।''

जैसे ही हमने अपने अंदर की सारी अहम्-परक इच्छाओं को, सारे व्यक्तिगत और स्वार्थमय उद्देश्यों को एक क्षण के लिए भी नष्ट कर दिया तो उसी क्षण हम अपने-आपको इस आंतरिक सहजता के प्रति, इस गंभीरतर प्रेरणा के प्रति अर्पित कर सकते हैं जो हमें विश्व की जीवंत तथा प्रगतिशील शक्तियों के साथ संबंध स्थापित करने में सक्षम बनाएगी।

ज्यों-ज्यों हम स्वयं पूर्ण होते जाएँगे त्यों-त्यों अनिवार्यतः हमारे कार्य की धारणा भी पूर्णतर होती जाएगी और इस उत्तरोत्तर बढ़ती पूर्णता को प्राप्त करने के लिए, हमें स्वयं को अतिक्रम करने में किसी भी प्रयास की उपेक्षा नहीं करनी होगी, किंतु हमारा कर्म सदा अधिकाधिक आनंदपूर्ण और उसी तरह सहज होना चाहिए, जैसे कि निर्मल स्रोत से जल का प्रवाह।'' (CWM 2, p.53-54)

''**हमारा उद्देश्य होना चाहिए उस तरह पूर्ण होना जैसे कि भगवान् अपनी सत्ता और आनन्द में पूर्ण हैं; पवित्र होना, जैसे कि 'वे' पवित्र हैं; आनन्दमय होना, जैसे कि 'वे' आनंदमय हैं; और जब हम स्वयं पूर्णयोग में 'सिद्ध' हो जाएँ तब सारी मानवजाति को उसी भागवत् परिपूर्णता तक ले जाना।** इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि वर्तमान में हम अपने उद्देश्य से दूर हैं, यदि हमने अपने-आपको एकनिष्ठता से इस प्रयत्न में लगा कर और निरन्तर उसी प्रयत्न में लगे रह कर और उसी के लिए जीवित रह कर अपने मार्ग पर चाहे एक कदम ही आगे बढ़ें, यह भी मानवजाति को उस संघर्ष और अर्धप्रकाश में से, जिसमें कि अभी वह निवास कर रही है, बाहर निकाल कर उस ज्योतिर्मय आनन्द में ले जाने में सहायक होगा जो भगवान् के द्वारा हमारे लिए निर्दिष्ट है। किन्तु हमारी तात्कालिक सफलता चाहे कुछ भी क्यों न हो, **हमारा अटल उद्देश्य होना चाहिए समूची यात्रा को पूरा करना, न कि मार्ग के बीच किसी पड़ाव या किसी अपूर्ण विश्रामस्थल में सन्तोषपूर्वक लेट जाना।**'' (CWSA 12, p.98)

''**वैयक्तिक आत्मा और समष्टिगत आत्मा एक ही हैं, हर एक जगत् में, हर एक सत्ता में, हर एक वस्तु में, हर परमाणु में 'भागवत् उपस्थिति' विद्यमान है और मनुष्य का लक्ष्य है उसे अभिव्यक्त करना।**'' (CWM 14, p.3)

***

प्र. ''क्या जीवन का लक्ष्य सुखी होना है?

उ. यह तो चीजों को उलटे-पुलटे ढंग से रखना हुआ।

मानव जीवन का लक्ष्य है भगवान् को खोजना और उन्हें अभिव्यक्त करना। स्वभावतः यह खोज हमें सुख प्रदान करती है; परंतु यह सुख अपने-आपमें एक लक्ष्य न होकर एक परिणाम है। और इस एक परिणाम-मात्र को जीवन का लक्ष्य

मान बैठने की भूल ही अधिकतर उन विपदाओं का कारण है जिन्होंने मानव जीवन को ग्रसित कर रखा है।'' (CWM 12, p.311-12)

***

''जीवन का एक प्रयोजन है।

यह प्रयोजन है भगवान् को खोजना और उनकी सेवा करना।

भगवान् दूर नहीं हैं, 'वे' हमारे अंदर हैं, अंदर की गहराइयों में, भावनाओं और विचारों के ऊपर। भगवान् के साथ है शांति, निश्चयता और साथ ही सभी कठिनाइयों का समाधान।

अपनी समस्याएँ भगवान् को सौंप दो और 'वे' तुम्हें सभी कठिनाइयों से बाहर निकाल ले जाएँगे।'' (CWM 14, p.5)

''पृथ्वी पर हमारे जीवन का उद्देश्य है भगवान् के बारे में सचेतन होना।''

(CWM 14, p.4)

***

''जीवन का सच्चा उद्देश्य :

'भगवान्' के लिए जीना, या 'सत्य' के लिए जीना, या कम-से-कम अपनी अन्तरात्मा के लिए जीना।

और सच्ची सत्यनिष्ठता–

'भगवान्' के लिए जीना, 'उनसे' बदले में किसी लाभ की अपेक्षा के बिना।''

(CWM 14, p.4)

''जीवन का सच्चा लक्ष्य है अपने अन्दर की गहराइयों में 'भगवान् की उपस्थिति' को पाना और 'उसके' प्रति समर्पण करना ताकि 'वह' जीवन का, सभी भावनाओं और शरीर की क्रियाओं का मार्गदर्शन करने लग जाए।

यह चीज जीवन को एक सच्चा और प्रकाशमय लक्ष्य प्रदान करती है।''

(CWM 14, p.5)

''सुख जीवन का उद्देश्य नहीं है।

साधारण जीवन का लक्ष्य है अपना कर्त्तव्य संपादन, आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है भगवान् को पाना।'' (CWM 14, p.7)

***

''जगत् में, जैसा कि वह है, जीवन का लक्ष्य व्यक्तिगत सुख पाना नहीं अपितु व्यक्ति को उत्तरोत्तर सत्य-चेतना के प्रति जागृत करना है।'' (CWM 14, p.7)

''हम सुखी होने के लिए धरती पर नहीं हैं क्योंकि पार्थिव जीवन की वर्तमान दशा में सुख असंभव है। हम धरती पर भगवान् को खोजने और प्राप्त करने के लिए हैं क्योंकि केवल 'दिव्य चेतना' ही सच्चा सुख दे सकती है।''

(CWM 14, p.7)

***

''मनुष्य भगवान् को व्यक्त करने के लिए बनाया गया था। इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि भगवान् के बारे में सचेतन हो और अपने-आपको पूरी तरह 'उनकी इच्छा' के प्रति अर्पित कर दे। बाकी सब, चाहे कैसा भी दिखता हो, मिथ्यात्व और अज्ञान है।'' (CWM 14, p.8)

***

''हम अपनी निजी मुक्ति नहीं अपितु भगवान् के प्रति अपनी सत्ता का पूर्ण समर्पण चाहते हैं।'' (CWM 14, p.8)

***

''भगवान् पर एकाग्रता ही वास्तव में एकमात्र सही चीज है। वही करना जो भगवान् हमसे करवाना चाहते हैं, यही एकमात्र सही चीज है।'' (CWM 14, p.8)

***

''सभी शब्दों से परे, सब विचारों से ऊपर, अभीप्सा करती हुई श्रद्धा की प्रकाशमान नीरवता में अपने-आपको हर तरह से, निःशेष रूप से, पूर्ण रूप से समस्त सृष्टि के 'परम् प्रभु' को अर्पित कर दो और वे तुम्हें वही बना देंगे जो वे

4. जीवन के सामान्य एवं सर्वाधिक प्रचलित आदर्श तथा अधिकांश लोगों के जीने का ढंग

चाहते हैं कि तुम बनो।'' (CWM 12, p.309-10)

***

''हम पृथ्वी पर भगवद्-इच्छा को चरितार्थ करने के लिए हैं।'' (CWM 14, p.4)

''अधिकतर लोग जिसे वे ''निर्विघ्न'' कहते हैं, जिसे वे ''शांतिपूर्ण'' कहते हैं वैसा जीवन चाहते हैं। वे अपने निजी पैमाने के भीतर एक छोटा-सा संगठन चाहते हैं – जो सामान्यतः अति-क्षुद्र होता है तथा जो सर्वदा लगभग एक ही प्रकार की क्रियाओं की एक नियमित दिनचर्या का होता है, लगभग उन्हीं सीमाओं के भीतर, प्रायः एक ही प्रकार की परिस्थितियों में जीना और उन सबको बिना अधिक अंतर के दोहराते रहना; पर्याप्त विविधता के साथ दोहराते रहना ताकि वह सब एकदम नीरस न बन जाए; और कोई ऐसी चीज भी न हो जो इस नियमित चक्कर को, जिसे शांतिपूर्ण जीवन कहा जाता है, भंग करे। अधिकांश मनुष्यों के लिए यही है आदर्श।

इस तरह, इस आदर्श की प्राप्ति में विवरण की बातें एकमात्र उस देश पर, जहाँ वे पैदा हुए हैं, उस समाज पर, जिसमें वे पैदा हुए हैं और उनके परिवेश के रीति-रिवाज पर निर्भर करती हैं। उनके आदर्श को ढालते हैं, उस देश और समाज के आचार-विचार, जिसमें वे रहते हैं।

निस्संदेह, अपवाद भी होते हैं, पर वे महज इस नियम को ही परिपुष्ट करते हैं। सामान्य रूप से कहा जाए तो सबसे प्रचलित आदर्श है एक ऐसे वातावरण में जन्म ग्रहण करना जो पर्याप्त रूप में सुखकर हो ताकि जीवन की अधिकांश कठिनाइयों से बचा जा सके, ऐसे व्यक्ति से विवाह करना जो तुम्हें अत्यधिक पीड़ा न दे, स्वस्थ संतान प्राप्त करना जो सामान्य रूप से बढ़े – यह भी परेशानी से बचने के लिए – और उसके बाद शांत और सुखपूर्ण वृद्धावस्था प्राप्त करना, बहुत अधिक बीमार न पड़ना, यह भी परेशानी से बचने के लिए। और जब वह जीवन से थक जाए तो मृत्यु को प्राप्त हो जाना, फिर इसी कारण से कि वह कोई

परेशानी नहीं उठाना चाहता।

निस्संदेह, यही सबसे अधिक प्रचलित आदर्श है। स्वभावतः ही इसके अपवाद भी हैं, यहाँ तक कि हम ठीक इससे विपरीत आदर्श भी पा सकते हैं। परंतु मनुष्य की जीवन के बारे में जैसी धारणा है वैसा जीवन एक तरह से नीरस ही होगा। अंतर केवल विवरण में ही होगा, क्योंकि एक देश में लोग एक तरह की चीज को पंसद करते हैं और दूसरे में दूसरी तरह की को; और फिर, जिस समाज में मनुष्य जन्म ग्रहण करता है उसमें कुछ विशेष रीति-रिवाज होते हैं और सुख समृद्धि का एक भिन्न आदर्श होता है – और बस इतना ही।" (CWM 8, p.57-58)

"अच्छा, तो यह अन्वेषण कि मनुष्य वास्तव में है क्या, यह पता लगाना कि वह पृथ्वी पर है क्यों, मनुष्य के भौतिक अस्तित्व का, पृथ्वी पर उसकी उपस्थिति का, उसके इस आकार-प्रकार का, इस सत्ता का सच्चा प्रयोजन क्या है... अधिकांश मनुष्य इन प्रश्नों को अपने-आपसे एक बार भी पूछे बिना जीते रहते हैं! थोड़े-से उत्कृष्ट लोग ही यह प्रश्न अपने-आप से तन्मयता से करते हैं और उनमें से भी कुछ ही इसका उत्तर पाने के लिए काम करना शुरू करते हैं। क्योंकि जब तक सौभाग्यवश किसी जानकार से भेंट नहीं होती तब तक इस बात को जान पाना इतना सरल नहीं है। उदाहरण के लिए, मान लो कि, तुम्हारे हाथ में श्रीअरविंद की कोई पुस्तक कभी न आई होती, न ही ऐसे लेखकों या दार्शनिकों या संतों में से किसी की जिन्होंने अपना जीवन इस खोज के लिए अर्पित कर दिया हो; यदि तुम साधारण जगत् में लाखों-करोड़ों साधारण लोगों की तरह होते जिन्होंने कुछ अवसरों – और आजकल वह भी नहीं, बल्कि बिरले ही – कभी कुछ देवों और धर्मों के अतिरिक्त और किसी के बारे में कुछ नहीं सुना – और वह धर्म भी श्रद्धा की अपेक्षा एक आदत ही अधिक होता है, – और वह धर्म भी तुम्हें कदाचित् ही यह बताता है कि तुम इस धरती पर क्यों आए हो... तब व्यक्ति इसके संबंध में विचार करने की बात भी मन में नहीं लाता। मनुष्य प्रतिदिन अपने दैनिक कृत्यों को करते हुए जीवन व्यतीत करता है। बचपन में वह खाने और खेलने के सम्बन्ध में ही सोचता है और कुछ समय बाद पढ़ने के विषय में,

तत्पश्चात् वह जीवन की साधारण परिस्थितियों के बारे में विचारने लगता है। परन्तु इस समस्या को अपने सामने रखना और अपने आप से इसके बारे में प्रश्न करना और अपने से कहना : ''आखिर, मैं यहाँ **क्यों** हूँ?'' ऐसा कितने लोग करते हैं? कुछ लोगों को तो यह विचार तभी आता है जब उनके सम्मुख कोई दारुण विपत्ति आ पड़ती है। जब वे अपने किसी प्रिय व्यक्ति को मरते हुए देखते हैं या उन्हें किन्हीं विशेष दुःखद परिस्थितियों में डाल दिया जाता है, तब यदि वे पर्याप्त बुद्धिमान हों तो अपनी ओर मुड़कर अपने आपसे पूछते हैं : ''किन्तु, यह दुःखदायक स्थिति वस्तुतः क्या है जिससे हम गुजर रहें हैं, इसका क्या लाभ है और क्या इसका प्रयोजन है?''

और केवल उसी क्षण से मनुष्य ज्ञान की खोज शुरू करता है।

और व्यक्ति जब खोज लेता है, जैसा कि वह कहता है, समझ गए, जब वह यह खोज लेता है कि उसमें एक दिव्य आत्मा है और इसके परिणामस्वरूप उसे इस दिव्य आत्मा को जानने की खोज करनी होगी... यह बुद्धि बहुत देर के बाद आती है, जबकि, सबकुछ के बावजूद, इस भौतिक शरीर में जन्म लेने के क्षण से ही, सत्ता में, उसकी गहराई में, यह चैत्य उपस्थिति होती है जो सारी सत्ता को इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर धकेलती है। किन्तु इसे कौन जानता और पहचानता है?

''यदि मनुष्य जाति देख पाती, भले ही क्षणिक अनुभव की झलक-मात्र में ही, कि कितने अनन्त भोग, कितनी सर्वांगपूर्ण शक्तियाँ, सहज ज्ञान के कितने ज्योतिर्मय शिखर, हमारी सत्ता की कितनी विशाल शांतियाँ उन प्रदेशों में हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं जिन्हें हमारे पाशविक क्रम-विकास ने अभी तक नहीं जीता है, तो वह सब कुछ छोड़ कर तब तक चैन से नहीं बैठेगी जब तक कि वह इन निधियों को हासिल नहीं कर लेती। परन्तु मार्ग संकीर्ण है, द्वारों को खोलना कठिन है, और प्रकृति के प्रहरियों के रूप में भय, अविश्वास, संशयात्मकता विद्यमान हैं जो हमारे कदमों को उसके साधारण चरागाहों से दूसरी तरफ मुड़ने से रोकते हैं।'' (CWSA12, p.423)

5. पार्थिव जीवन का स्वरूप एवं उद्देश्य

ऐसा भी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही होता है, और दुर्भाग्यवश अधिकांशतः ये परिस्थितियाँ दुःखपूर्ण ही होती हैं अन्यथा मनुष्य बिना सोचे ही जीता रहता है और उसमें स्वयं की सत्ता की गहराई में यह चैत्य पुरुष है जो चेतना को जगाने और ऐक्य को पुनः स्थापित करने के लिए यत्न करता है, यत्न करता है, यत्न करता ही रहता है। व्यक्ति इस बारे में कुछ भी नहीं जानता।" (CWM 9, p.15-17)

"पार्थिव जीवन प्रगति का क्षेत्र है। यहीं, इस धरा पर ही, पार्थिव अस्तित्व की अवधि में ही प्रगति संभव है तथा यह चैत्य ही है जो अपने संवर्धन और क्रम-विकास की स्वयं व्यवस्था करता हुआ एक जन्म से दूसरे जन्म में प्रगति को वहन करता है।" (CWM 9, p.270)

"...चैत्य पुरुष सत्ता में छोटी-सी भागवत् चिनगारी के रूप में शुरू होता है और इस चिनगारी में से उत्तरोत्तर एक ऐसी स्वतंत्र सचेतन सत्ता का उदय होगा जिसकी स्वयं की क्रिया और इच्छा-शक्ति होगी। अपने उद्गम में चैत्य पुरुष भागवत् चेतना की एक चिनगारी-मात्र होता है और एक के बाद एक अनेक जीवनों में उत्तरोत्तर सचेतन व्यक्तित्व का निर्माण करता है। यह प्रगति विकसित होते हुए बच्चे की प्रगति जैसी है। यह एक निर्मित होती हुई सत्ता है। बहुत समय तक, अधिकांश लोगों में चैत्य एक निर्मित होती हुई सत्ता के रूप में ही होता है। यह पूरी तरह से वैयक्तिक, सचेतन सत्ता एवं अपना स्वामी नहीं होता और इसे अपने आप को गढ़ने के लिए और पूरी तरह सचेतन होने के लिए, एक के बाद एक, अपने सारे पुनर्जन्मों की आवश्यकता होती है।" (CWM 5, p.203)

"और इसकी दिलचस्पी को एक और चीज बढ़ा देती है और वह यह है कि इस प्रकार का कार्य – दिव्य 'केन्द्र' के इर्द-गिर्द अपनी सत्ता को सुसमंजस बनाने और सुसंगठित करने का कार्य – केवल भौतिक शरीर में और पृथ्वी पर ही किया जा सकता है। वास्तव में यही पृथ्वी पर भौतिक जीवन का मौलिक और आधारभूत कारण है। क्योंकि जैसे ही तुम भौतिक शरीर में नहीं रहते तुम यह कार्य *बिल्कुल* नहीं कर सकते।

और उससे भी कहीं अधिक अद्भुत बात यह है कि **केवल मनुष्य ही इसे कर सकते हैं, क्योंकि केवल मनुष्य ही ऐसे हैं जिनकी सत्ता के केन्द्र में, चैत्य**

पुरुष के अंदर 'भागवत् उपस्थिति' विद्यमान है। उदाहरणार्थ, आत्म-विकास और संगठन और समस्त तत्त्वों के विषय में सचेतन होने का यह कार्य न तो प्राणमय और मनोमय जगतों की सत्ताओं की पहुँच के भीतर है और न ही उन सत्ताओं की पहुँच के भीतर है जिन्हें साधारणतया ''देवता'' कहा जाता है; और जब वे यह करना चाहते हैं, जब वे वास्तव में अपने-आपको सुसंगठित करना तथा पूर्ण रूप से सचेतन होना चाहते हैं तो उन्हें मनुष्य शरीर धारण करना पड़ता है।'' (CWM 8, p.175)

''इतिहास की घटनाओं का मूल्याकंन करने के लिए कुछ अंतराल की आवश्यकता होती है; इसी तरह यदि तुम भौतिक संभावनाओं से पर्याप्त ऊपर उठ सको तो तुम समस्त पार्थिव जीवन को समग्र रूप में देख सकोगे। उसी क्षण से यह अनुभव करना सुगम हो जाता है कि मानव जाति के सभी प्रयास उसे एक ही लक्ष्य की ओर ले जा रहे हैं।

यह सही है कि व्यक्तिगत रूप से हो या सामूहिक रूप से, मनुष्य वहाँ तक पहुँचने के लिए बहुत भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाते हैं; उनमें से कुछ इतने टेढ़े-मेढ़े चलते हैं कि पहली दृष्टि में लगता है कि वे अपने लक्ष्य की ओर जाने की अपेक्षा उससे परे जा रहे हैं। किन्तु सभी जाने या अनजाने, तेजी से या धीरे-धीरे जा रहे हैं उसी ओर।

तो यह लक्ष्य है क्या?

यह मनुष्य के जीवन के उद्देश्य और विश्व में उसके कार्य के साथ एक है।

लक्ष्य : ''उसे चाहे तुम किसी भी नाम से पुकारो, बुद्धिमानों के लिए तो सभी नाम केवल उस 'एक' के ही हैं।''

चीनियों का 'ताओ', हिंदुओं का 'ब्रह्म', बौद्धों का 'धर्म', हर्मीज़ का 'शुभ', प्राचीन यहूदियों के अनुसार वह जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, ईसाईयों का 'ईश्वर', मुसलमानों का 'अल्लाह', भौतिकवादियों का 'न्याय, सत्य'।

मानव जीवन का उद्देश्य है 'उसके' बारे में सचेतन होना।

उसका कार्य है 'उसे' अभिव्यक्त करना।

सभी धर्मों, सभी सिद्धों की शिक्षा इस लक्ष्य तक पहुँचने के तरीकों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।'' (CWM 2, p.129)

''प्रायः यह माना जाता है कि प्रकृति में सभी चीजों का अन्त दुःखद ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति उन लोगों की कहानी जानता है जो अपने जीवन में महान् सफलता का उपभोग करने के बाद शोचनीय अंत को प्राप्त हुए; उनकी भी कहानी जानता है जिनमें असाधारण क्षमताएँ थीं और जिन्होंने अंत में उन्हें खो दिया; उस राष्ट्र की भी कहानी जानता है जो दीर्घकाल तक एक अद्‌भुत सभ्यता का उदाहरण रहा – सभ्यता लुप्त हो जाती है और वह राष्ट्र एक ऐसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो जाता है कि कोई याद भी नहीं कर पाता कि वह पहले क्या था। **ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी का इतिहास जय के पश्चात् पराजयों की कहानी है न कि पराजयों के बाद विजयों की।**

परंतु वास्तव में, जब कभी वैश्व एवं दिव्य वस्तुओं का प्रश्न उठता है तो यह जानने के लिए कि सत्य किस प्रकार स्वयं को अभिव्यक्त करता है तो जिस चीज की आवश्यकता होती है वह है एक सार्वभौमिक दृष्टि तथा वस्तुओं के बारे में दिव्य समझ। संसार में एक प्रकार का सामान्य निराशावाद है जिसके अनुसार वस्तुओं का आरम्भ ठीक प्रकार से होने पर भी उनका समापन बुरे रूप में ही होता है, तथा दुर्बलता, पाखंड, मिथ्याचार और दुष्टता ही वो हैं जो सर्वदा प्रधानता प्राप्त करती प्रतीत होती हैं। यही कारण है कि जिन लोगों ने संसार को अपने निजी व्यक्तिगत आयाम के अंदर देखा है उन्होंने कहा है कि संसार बुरा है और जितनी जल्दी संभव हो हमें उससे अपना संसर्ग समाप्त कर बाहर निकल जाना चाहिए। गुरुओं ने यह शिक्षा दी है, परंतु उनकी शिक्षा केवल यही सिद्ध करती है कि उनकी दृष्टि अत्यंत संकीर्ण है तथा उनके मानवीय व्यक्तित्व के आयाम से सीमित है।

वास्तव में, प्रकृति की गतियाँ ज्वार-भाटे की तरह होती हैं: वे आगे बढ़ती हैं, फिर पीछे हटती हैं, आगे बढ़ती और पीछे हटती हैं; इसका अर्थ होता है वैश्व जीवन में और पार्थिव जीवन में भी उत्तरोत्तर प्रगति, यद्यपि देखने में यह प्रगति प्रत्यावर्तनों से छिन्न-भिन्न हुई सी प्रतीत होती है। परन्तु ये प्रत्यावर्तन केवल एक प्रतीति हैं, ठीक वैसे ही जैसे व्यक्ति आगे कूदने के लिए पीछे हटता है। तुम पीछे

हटते हुए प्रतीत होते हो पर यह केवल अधिक आगे जा सकने के लिए होता है।''

(CWM 4, p. 22-23)

''आध्यात्मिक अवस्था ही एकमात्र अपरिहार्य वस्तु है, जब तक साधारण मनुष्य-जाति इसके प्रति जागृत नहीं होती तब तक एक आदर्श समाज व भगवान् के राज्य में उन्मुक्त भ्रातृत्व के स्वप्न की परिणति असफलता व निराशा में ही होगी। अंतर में भागवत् साम्राज्य ही बाहरी भागवत् साम्राज्य का एकमात्र आधार हो सकता है; क्योंकि केवल वह भाव ही, जिसके द्वारा मनुष्य जीता है, उसके जीवन के बाह्य रूपों को निर्धारित करता है।'' (CWSA 1, p.586)

''जीवन सत्य और मिथ्यात्व, प्रकाश और अंधकार, उन्नति और अवनति, ऊँचाइयों की ओर आरोहण या रसातल में पतन के बीच एक निरंतर चुनाव है। यह हर एक के लिए है कि वह स्वतंत्रतापूर्वक चयन करे।'' (CWM 14, p.29)

''जिस क्षण व्यक्ति आगे बढ़ना बंद कर देता है, वह पीछे जाता है। जिस क्षण वह संतुष्ट हो जाता है और फिर अभीप्सा नहीं करता वह मरना शुरू हो जाता है। जीवन है गति, जीवन है प्रयास, जीवन है आगे की ओर बढ़ना, एक पर्वत पर चढ़ना, नए-नए ज्योति-शिखरों की ओर आरोहण करना और भविष्य की सिद्धियों की ओर अग्रसर होना। विश्राम करने की चाह से बढ़कर खतरनाक कुछ भी नहीं है। हमें विश्राम मिलना चाहिए कर्म में, प्रयास में, आगे की ओर बढ़ने में – वह सच्चा विश्राम जो कि भागवत् कृपा में पूर्ण भरोसे से, इच्छाओं के अन्त से, अहम् पर विजय प्राप्त करने से मिलता है।'' (CWM 9, p.66)

''कभी मत कहो कि ''अमुक व्यक्ति यह नहीं करता,'' ''अमुक व्यक्ति कुछ और ही करता है,'' ''कि वह तो वही करता है जो उसे नहीं करना चाहिए'' – इन सब बातों से तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है। तुम इस पृथ्वी पर, एक भौतिक शरीर में, एक सुनिश्चित उद्देश्य से लाए गए हो और वह है इस शरीर को जितना संभव हो उतना सचेतन बनाना, इसे भगवान् का सर्वाधिक पूर्ण और सचेतन यंत्र बनाना। भगवान् ने तुम्हें चेतना के सभी – मानसिक, प्राणिक और भौतिक – क्षेत्रों में, वह तुमसे जो कुछ आशा करते हैं उसके अनुपात में योग्यता और साधन की एक विशेष मात्रा प्रदान की है, और वह जो कुछ तुमसे आशा रखते हैं उसी के

अनुपात में तुम्हारे चारों ओर की समस्त परिस्थितियाँ भी व्यवस्थित हैं, और जो लोग तुमसे यह कहते हैं, ''मेरा जीवन भयावह है, मैं संसार में अत्यंत दयनीय जीवन-यापन कर रहा हूँ,'' वे सब गधे हैं! प्रत्येक व्यक्ति का जीवन ऐसा है जो उसके सर्वांगीण विकास के उपयुक्त है, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अनुभव प्राप्त होते हैं जो उसे उसके सर्वांगीण विकास में सहायता देते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख जो कठिनाइयाँ हैं वे भी ऐसी ही हैं जो उसे उसकी पूर्ण उपलब्धि में सहायक होती हैं।

यदि तुम सावधानीपूर्वक अपने आपको देखो तो पाओगे कि व्यक्ति सदा ही अपने अंदर उस सद्‌गुण के विपरीत वस्तु को वहन करता है जो उसे प्राप्त करनी है (यहाँ मैं ''सद्‌गुण'' शब्द का प्रयोग उसके विशालतम और उच्चतम अर्थ में कर रही हूँ)। तुम्हारा एक विशेष लक्ष्य है, एक विशेष कार्य है, एक विशेष उपलब्धि है जो तुम्हारी अपनी है, हर एक की अपनी व्यक्तिगत है और तुम अपने अंदर अपनी इस उपलब्धि को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक सभी कठिनाइयों को वहन करते हो। सर्वदा ही तुम यह देखोगे कि तुम्हारे अन्दर अंधकार और प्रकाश समान-रूप से विद्यमान हैं : तुममें एक योग्यता है, तुममें उस योग्यता का अभाव भी है। परंतु तुम यदि अपने अंदर एक बहुत काला छिद्र, बहुत घना अंधकार देखो तो यह निश्चित रूप से जानो कि तुम्हारे अंदर कहीं पर एक महान् प्रकाश भी है। अब यह तुम्हारा काम है कि तुम यह जानो कि एक का उपयोग दूसरे की संसिद्धि के लिए किस प्रकार किया जाए।

यह एक ऐसा तथ्य है जिसके बारे में बहुत कम कहा गया है, पर जो है अत्यंत महत्त्वपूर्ण। और यदि तुम सावधानीपूर्वक निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ हमेशा यही बात होती है। यह चीज हमें उन कथनों की ओर ले जाती है जो विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होते हैं पर होते हैं एकदम सत्य; उदाहरणार्थ, बड़े-से-बड़ा चोर बड़े-से-बड़ा ईमानदार व्यक्ति हो सकता है (यह बात, निस्संदेह, तुम्हें चोरी करने का प्रोत्साहन देने के लिए नहीं कही जा रही है!) और बड़े-से-बड़ा झूठा अत्यंत सत्यवादी व्यक्ति बन सकता है। अतएव, तुम यदि अपने अंदर बहुत बड़ी दुर्बलता देखो तो निराश मत होओ, क्योंकि हो सकता है

कि वह महत्तम अप्रकट दिव्य शक्ति का ही चिह्न हो। यह न कहो कि ''मैं ऐसा हूँ, इससे अन्यथा नहीं हो सकता।'' यह सच नहीं है। तुम 'ऐसे' इसलिए हो क्योंकि, निश्चित रूप से, तुम्हें उसके विपरीत बनना है। और तुम्हारी सभी कठिनाइयाँ ठीक इसीलिए हैं कि तुम उन्हें, वे जिन सत्यों को छिपाये हुए हैं, उनमें रूपांतरित कर सको। एक बार जब तुम यह बात समझ जाते हो तो तुम्हारी बहुत सारी दुश्चिंताएँ समाप्त हो जाती हैं और तुम बहुत सुखी, बहुत ही सुखी हो जाते हो। जब मनुष्य देखता है कि उसमें कई बहुत काले छिद्र हैं तो वह कहता है, ''यह दर्शाता है कि मैं बहुत ऊँचा उठ सकता हूँ,'' यदि गर्त्त बहुत गहरा है तो ''मैं बहुत ऊँचाई तक ऊपर चढ़ सकता हूँ।''''(CWM 4, p.117-19)

***

''यदि केवल जीवन ही होता और मृत्यु न होती तो फिर अमरत्व नाम की कोई चीज ही नहीं होती; यदि केवल प्रेम ही होता और क्रूरता न होती तो फिर आनंद केवल एक प्रकार का मंद और क्षणिक उल्लास मात्र रह जाता; यदि केवल ज्ञान ही होता और अज्ञान न होता तो हमारी अधिक-से-अधिक पहुँच एक सीमित तर्क-शक्ति और सांसारिक समझ तक ही होती।

'मृत्यु' रूपांतरित होकर 'जीवन' बन जाती है और वही है 'अमरत्व'; 'क्रूरता' परिवर्तित होकर 'प्रेम' बन जाती है और वही है असह्य आनंदातिरेक; 'अज्ञान' बदलकर 'प्रकाश' बन जाता है जो ज्ञान और प्रज्ञा के भी परे जा पहुँचता है।''

(CWSA 12, p.433)

''दिव्य प्रेम का तत्त्व 'अभिव्यक्त' और 'अनभिव्यक्त' के परे है, उसका शिथिलता या क्रूरता के साथ कोई संबंध नहीं है। श्रीअरविन्द का विचार केवल यही लगता है कि परस्पर विरोधी चीजें 'जड़-तत्त्व' को इस तरह गढ़ने के लिए कि उसकी अभिव्यक्ति अधिक तीव्र हो सके, सबसे अधिक तेज एवं प्रभावकारी साधन हैं।''(CWM 10, p.165)

***

''...ये सब चीजें 'अभिव्यक्ति' को तीव्र बनाने के, उसे प्रगति कराने के, उसे अधिकाधिक पूर्ण बनाने के तरीके मात्र हैं। और यदि ये मार्ग अपरिष्कृत हैं तो इसका कारण यह है कि स्वयं यह 'अभिव्यक्ति' अभी बहुत अपरिष्कृत है।...

6. पूर्णता के मार्ग पर आने वाले उतार चढ़ाव

अतएव, जब प्रगति करने के लिए पृथ्वी पर मरने की आवश्यकता नहीं होगी, तब मृत्यु नहीं रहेगी। जब प्रगति करने के लिए पृथ्वी पर दुःख-कष्ट उठाने की आवश्यकता न रहेगी, तब दुःख-कष्ट नहीं रहेंगे। और जब प्रेम करने के लिए पृथ्वी पर घृणा करने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी, तो फिर घृणा भी नहीं रहेगी।" (CWM 10, p.166)

"एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज है वह लक्ष्य जिसे प्राप्त करना है। मार्ग का महत्त्व कम है और प्रायः उसे पहले से न जानना अधिक अच्छा है।"(CWM 14, p.4)

***

"...जब व्यक्ति जीवन के गहन नियमों को समझना चाहता है, भगवान् द्वारा भेजे गए किसी भी संदेश को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता है, यदि वह 'अभिव्यक्ति' के गुप्त रहस्यों में प्रवेश पाना चाहता है तो इन सब के लिए एक विकसित मन की आवश्यकता होती है; अतः, ऐसा व्यक्ति इसी संकल्प के साथ अध्ययन करता है। किंतु तब उसे अध्ययन के लिए विशेष विषय का चुनाव करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि तब सब कुछ चाहे वह कुछ भी हो, जीवन की एक छोटी-सी परिस्थिति भी शिक्षक बन जाती है, वह तुम्हें कुछ-न-कुछ सिखा सकती है, वह सिखाती है कैसे सोचना और कार्य करना। अपितु (मैंने शायद ठीक यही कहा भी था), एक अज्ञानी बालक के विचार भी तुम्हें एक ऐसी वस्तु को समझने में सहायता दे सकते हैं जिसे तुम पहले नहीं समझते थे। तुम्हारी मनोवृत्ति तब इतनी भिन्न होती है कि वह सदा किसी खोज की, प्रगति के किसी अवसर की, किसी गलत चेष्टा के शोधन की, एक पग आगे बढ़ने की प्रतीक्षा में रहती है। वह एक तरह से ऐसे चुंबक का कार्य करती है जो चारों ओर से प्रगति के अवसर को अपनी ओर खींच लेती है। **छोटी-से-छोटी वस्तु भी तुम्हें प्रगति कैसे की जाए, यह दर्शा सकती है। चूँकि तुम्हारे अंदर प्रगति करने की चेतना और संकल्प होते हैं, प्रत्येक वस्तु तुम्हारे लिए विकास करने का साधन बन जाती है, और फिर तुम विकास करने की इस चेतना और संकल्प को सब वस्तुओं पर प्रक्षिप्त कर सकते हो।**

और यह न केवल तुम्हारे लिए ही उपयोगी है वरन् उन सभी लोगों के लिए भी लाभकारी है जो तुम्हारे इर्द-गिर्द हैं और जिनसे तुम्हारा संपर्क है।"(CWM 6, p.154)

***

"जो आत्मा अपने-आपको पूर्ण रूप से ईश्वर को दे देती है, उसे ईश्वर भी अपने-आपको पूर्ण रूप से दे देता है। केवल वही जो अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को अर्पित कर देता है, 'स्व' को प्राप्त करता है। केवल वही जो सब कुछ दे सकता है, सर्वत्र विश्वमय भगवान् का रसास्वादन कर सकता है। केवल एक परम् आत्मोत्सर्ग ही 'सर्वोच्च' को प्राप्त करता है।"(CWSA 23, p.110)

***

"जो लोग अपनी मानवीय शक्ति के भरोसे ज्ञान-साधन या पुण्यकर्म अथवा कठोर तप के द्वारा उस 'महत्-पद' को प्राप्त करने की अभीप्सा करते हैं वे बड़े कष्ट से अपने रास्ते पर आगे बढ़ पाते हैं; परन्तु जीव जब अपने अहंकार और कर्मों को भगवान् को समर्पित कर देता है तब भगवान् स्वयं चले आते हैं और हमारा बोझ उठा लेते हैं। अज्ञानी को वे लाते हैं दिव्य ज्ञान का आलोक, दुर्बल को दिव्य संकल्प का बल, पापात्मा को दिव्य पवित्रता की मुक्तिदायिनी स्थिति, दुःखी को अनन्त आत्मसुख और आनन्द। जीव की दुर्बलता और उसके मानवीय बल की लड़खड़ाहटें उनकी इस कृपा में कोई फर्क नहीं ला सकती। अर्जुन से भगवान् स्वयं पुकार कर कहते हैं, "यह मेरा वचन है कि जो कोई मुझसे प्रेम करता है उसका कभी विनाश नहीं होगा।""

(CWSA 19, p.335)

***

"श्रीअरविन्दः तुम्हें एक चयन करना हैः इस योग में व्यक्ति बिलकुल स्वतंत्र है। मैं तुम्हारे व्यक्तित्व का दमन नहीं कर सकता। मेरा मतलब, मैं कर सकता हूँ, किन्तु इस योग में यह स्वीकार्य नहीं है। अतः 'उच्चतर शक्ति' का कार्य तुम क्या चयन करते हो इस पर निर्भर करता है।

साधकः किन्तु आप हमारी रक्षा के लिए तो हैं ही।

श्रीअरविन्दः हाँ, यदि तुम्हारे अन्दर पूर्ण श्रद्धा हो और तुम सही चयन करते हो तो मैं तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ। **यदि तुम गलत चयन करो तो मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। तुम्हें यह मालूम होना चाहिए कि यह कोई साधारण मामला नहीं है। यह ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक विद्रोह नहीं है जिसे कोई भी सुगमता से कर सकता है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण वैश्विक प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह है अतः मेरे साथ जुड़ने से पहले व्यक्ति को गंभीरता से विचार कर लेना चाहिए।**

भयंकर शक्तियाँ तुम पर आक्रमण करेंगी और तुम्हें निरंतर सही चयन करते रहना होगा तथा उच्चतर सत्य की क्रिया को स्वीकृति देनी होगी और इस प्रकार अपनी शक्ति को सिद्ध करना होगा।

यदि तुम यह योग प्रारंभ करो तो उसका प्रथम परिणाम अधिकांशतः उत्तेजित आंतरिक व्याकुलता, शोरगुल या अशांति होगी न कि शांति जिसकी तुम खोज कर रहे हो। और विशेषकर जब तुम वास्तविक धरातल पर आओगे तो वहाँ कठिनाइयाँ लगभग दुस्तर होंगी।" (Evening talks with Sri Aurobindo, Ed. 2007, p. 38)

***

"जब किसी को निचले धर्म से मुक्त होना हो तो प्रायः उसे विशालतर धर्म तक पहुँचने के लिए इसका – उदाहरण के लिए, सामाजिक कर्त्तव्य, ऋण-मुक्ति, परिवार की देखभाल, देश सेवा में सहायता आदि निचले धर्मों का – त्याग करना पड़ता है। जो आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ता है उसे इन सब चीजों को पीछे छोड़ना पड़ता है और उसे इस 'अधर्म' के लिए बहुतों से बुरा-भला सुनना पड़ता है। किन्तु यदि वह यह 'अधर्म' न करे तो वह सदा के लिए निचले जीवन के साथ ही बँधा रहेगा – क्योंकि हमेशा ही कोई-न-कोई कर्त्तव्य बचा ही रहता है – और कभी भी आध्यात्मिक धर्म को न अपना सकेगा या तब अपना सकेगा जब वह बूढ़ा हो जाए और उसकी क्षमताएँ क्षीण हो जाएँ।" (CWSA 28, p.438-39)

***

''हमें मोक्ष की खोज क्यों करनी चाहिए; इसका सबसे अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि हम व्यक्तिगत रूप में जगत् के दुःख से मुक्त हो जाए, – यद्यपि दुःख से मुक्ति भी हमें प्राप्त होगी, – वरन् यह है कि हम 'भगवान्', 'सर्वोच्च' और 'शाश्वत' के साथ एक हो जाएँ। पूर्णता की खोज – परम् स्थिति, पवित्रता, ज्ञान, बल, प्रेम और सामर्थ्य की खोज – हमें क्यों करनी चाहिए इसका सबसे अधिक यथार्थ कारण यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप में हम दिव्य प्रकृति का उपभोग करें, यह भी नहीं कि हम देवताओं के समान बन जाएँ, – यद्यपि ऐसा दिव्य उपभोग भी हमें अवश्य प्राप्त होगा – वरन् यह है कि इस मुक्ति और पूर्णता को प्राप्त करना ही हमारे अन्दर भगवान् की इच्छा है, यही प्रकृति में हमारी आत्मा का सर्वोच्च सत्य है, यही विश्व में वर्द्धनशील अभिव्यक्ति का सदा अभिमत लक्ष्य है। दिव्य प्रकृति – स्वतंत्र, परिपूर्ण और आनन्दमय प्रकृति – व्यक्ति में अवश्य प्रकट होनी चाहिए जिससे कि यह संसार में भी अभिव्यक्त हो सके। अविद्या में भी व्यक्ति वस्तुतः विराट् के अन्दर और विराट् के प्रयोजन के लिए ही निवास करता है। अपने अहम् के प्रयोजनों और कामनाओं का अनुसरण करता हुआ भी वह विश्व-प्रकृति के द्वारा बाध्य होकर अपने अहंमूलक कार्य से इन लोकों के अन्दर उस (प्रकृति) के कार्य और प्रयोजन में ही सहयोग देता है; परन्तु यह सहयोग वह बिना सचेतन संकल्प के एवं अपूर्ण ढंग से और उसकी अर्द्ध-विकसित एवं अर्द्ध-चेतन तथा अपूर्ण एवं स्थूल क्रिया को ही देता है। अहम् से मुक्त होकर भगवान् से एकत्व प्राप्त करना ही उसके व्यक्तिभाव की मुक्ति है और यही उसकी परिपूर्णता भी है। इस प्रकार मुक्त, शुद्ध और पूर्णता प्राप्त व्यक्ति – दिव्य-आत्मा – जैसा प्रारम्भ से ही अभिमत था, सचेतन तथा समग्र रूप में विराट् और परात्पर भगवान् में और उसके लिए तथा उसके विश्वगत संकल्प के लिए जीवन-यापन करने लगता है।'' (CWSA 23, p.275)

***

''मनुष्य जो कुछ पहले कर चुका है उसे ही बराबर दोहराते जाना हमारा कार्य

नहीं है, अपितु हमें नवीन सिद्धियों और अकल्पित विजयों को प्राप्त करना है। काल, आत्मा और जगत् हमें क्षेत्र के रूप में दिए गए हैं; दृष्टि, आशा और सृजनात्मक कल्पना हमें प्रेरणा देने के लिए हैं; संकल्प, विचार और श्रम हमारे सर्वसमर्थ साधन हैं।

भला वह कौनसी नई चीज है जिसे अभी हमें प्राप्त करना है? 'प्रेम', क्योंकि अब तक हमने केवल घृणा और आत्म-तुष्टि को ही पाया है; 'ज्ञान', क्योंकि अब तक हमने केवल भूल-भ्रांति, इंद्रिय-बोध और मानसिक कल्पना को ही पाया है; 'आनंद', क्योंकि अब तक हमने केवल सुख-दुःख और उदासीनता को ही पाया है; 'शक्ति', क्योंकि अब तक हमने केवल दुर्बलता, प्रयास और पराजित विजय को ही पाया है; 'जीवन', क्योंकि अब तक हमने केवल जन्म, वर्धन और मृत्यु को ही पाया है; 'एकत्व', क्योंकि अब तक हमने केवल युद्ध और मेलजोल को ही पाया है।

एक शब्द में कहें, भगवत्ता; अपने आप को भागवत् रूप में पुनर्निर्मित करना है।" (CWSA 13, p.200-01)